Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed Open Access Journal
Vol. 3, Issue 3, July-September, 2025
Available online : https://www.biharshodhsamaagam.com/
ISSN : 3048-6971
(ONLINE)

जसिंता केरकेट्टा के काव्य में इन्कलाबी चेतना

नबी हुसैन
शोधार्थी
विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

जसिंता केरकेट्टा समकालीन हिन्दी कविता की नवीनतम उपलब्धियों में से एक हैं। यह कहना महज अतिशयोक्ति नहीं है बल्कि इस स्थापना के पक्ष में कई अकाट्य तर्क दिए जा सकते हैं। जसिंता की कविताएं समकालीन कविता की चौहद्दी को अभूतपूर्व ढंग से विस्तार देती हैं और इस प्रक्रिया में वह सत्ता संरचना से टकराते हुए अपनी समकालीनता अर्जित करती हैं। उनकी कविताएं समकालीन काव्य परम्परा के अनुरूप गहन राजनीतिक–सामाजिक निहितार्थों से लैस तो होती ही हैं, इसके साथ ही साथ आदिवासियत की गहन समझ से निर्मित ये कविताएं मध्यवर्गीय नैतिकता एवं वर्चस्ववादी सामाजिक व्यवस्था को प्रश्नांकित करने से कभी चूकती नहीं। यह कहना कि जसिंता ने समकालीन हिन्दी कविता को विस्तार दिया है इसलिए उचित जान पड़ता है क्योंकि छायावाद से लेकर साठोत्तर के तमाम कविता आंदोलनों के काव्य–विवेक में आदिवासी स्त्री की जीवन–दृष्टि को स्वीकार्यता नहीं मिली थी। हिन्दी कविता के फलक पर निर्मला पुतुल जैसी आदिवासी कवयित्रियों के आगमन से वह द्वार खुलता है, जिससे नए–नए आदिवासी स्वर हिन्दी कविता में अपने हिस्से की धूप, गंध और मिट्टी लेकर आते हैं; जसिंता उनमें से एक हैं। जसिंता की वैचारिकी उनकी कविताओं की अन्तःसलिला है। हालांकि इससे यदि केवल यह अर्थ ध्वनित हो रहा हो कि उनकी कविताएं महज राजनीतिक हैं तो यह उनकी वैचारिकी और कविता के साथ नाइंसाफी होगी। उनकी वैचारिकी में आदिवासी सांस्कृतिक मूल्यों का बहुत विशिष्ट स्थान है। जीवन और जगत को आदिवासी दृष्टि से देखने के आग्रह के कारण उनकी कविताएं मुख्यधारा के वर्चस्ववादी शक्ति संरचना द्वारा दबा दी गई आवाज़ को पुनः मुखरित करती हैं। यह सुखद आश्चर्य है कि उनकी कविताएं मध्यवर्गीय नैतिकता को एक झटके में झकझोर कर रख देती है। इसे स्पष्ट करने के लिए उनकी दो पंक्तियों की एक अतिसंक्षिप्त पर बेहद अर्थपूर्ण कविता पर दृष्टिपात करना जरूरी है। 'इन्तज़ार' शीर्षक कविता में वह कहती हैं : "वे हमारे सभ्य होने के इन्तज़ार में हैं/ और हम उनके मनुष्य होने के।"[1]

विचारणीय है कि सभ्य होने के जिस पैमाने पर मुख्यधारा का तथाकथित विकसित समाज आदिवासियों को असभ्य साबित करता है, वह पैमाना क्या है? क्या मुख्यधारा के तथाकथित विकसित और सुशिक्षित समाज में स्त्रियां सुरक्षित हैं? क्या समाज में समानता का व्यवहार है? क्या तथाकथित आधुनिक शिक्षा मुख्यधारा के समाज को इतना सभ्य बना सका कि वे स्त्रियों को महज भोग्या के तौर पर न देखें? इन चंद प्रश्नों से ही मुख्यधारा के समाज की नैतिकता का सारा लबादा उतर जाता है। वास्तव में मुख्यधारा के समाज की नैतिकता है क्या? आज भी समाज ब्राह्मणवादी–सामंतवादी सामाजिक–सांस्कृतिक मूल्यों से ही वह संचालित हो रहा। आज भी समाज में मध्ययुगीन विभत्सताएं देखी जाती हैं। महज मूंछ रखने के लिए किसी दलित को मार दिया जाता है तो किसी स्त्री का देर रात काम से लौटने पर बलात्कार कर दिया जाता है। आर्थिक असमानता की खाई दिन–ब–दिन बढ़ती ही जा रही है। एक तरफ नियम–कानून को ताक पर रख कर करोड़ों का मुनाफा कमाने वाले पूंजीपतियों के हितों को सुरक्षित रखने वाली सरकार को यह मुख्यधारा का समाज समर्थन देता है लेकिन गरीब किसानों–मजदूरों के हितों के संहार पर समाज में चुप्पी छाई रहती है। तथाकथित विकसित और आधुनिक समाज की यह विडंबना है। आधुनिकता के तमाम उपकरणों का उपयोग मध्ययुगीन धर्मोन्माद में समाज को धकेलने के लिए किया जा रहा है। हर तरह के अल्पसंख्यकों पर नित नए प्रकार से अन्यीकरण थोपा जाता है। ऐसे में मुख्यधारा का समाज किस आधार पर उस आदिवासी समाज को असभ्य कहता है, जहां न साम्प्रदायिकता है, न आर्थिक लूट की आसमान प्रणाली है, न लैंगिक गैरबराबरी है, न जाति व्यवस्था जैसी अमानवीय सामाजिक संरचना है! क्या कोई तार्किक, वैज्ञानिक चेतना से लैस व्यक्ति आदिवासी समाज को असभ्य कह सकता है? दरअसल यह सवर्णवादी श्रेष्ठताबोध है जो विभिन्न मानव समूहों को साजिशन हाशियाकृत करता है तत्पश्चात उनपर असभ्य होने, गंदे–गलीज होने की अवमानना थोपता है। क्या यही तरीका दलितों के साथ नहीं अपनाया गया है? क्या कुछ इसी तरह से स्त्रियों को दोयम दर्जे का नागरिक नहीं साबित किया जाता? क्या कुछ इसी ढंग से अल्पसंख्यकों को कट्टर और क्रूर नहीं ठहराया जाता? कहने का लब्बोलुआब यह है कि सवर्ण श्रेष्ठतावादी मूल्यबोध भले ही आदिवासियों को असभ्य कहे लेकिन वास्तविकता यह है कि ऐसे मूल्यों का पोषक समाज स्वयं असभ्य है, जिसकी ठीक पहचान जसिंता ने उपरोक्त कविता में की है।

अन्यकरण की इस पीड़ा को जसिंता ने बहुत मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। द्रष्टव्य है : "दरवाजा तोड़कर वे/ कभी भी हमारे घरों में घुस आते थे/पर दिलों में घुसने का दरवाजा/ उन्हें कभी नहीं मिला।"[2] ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता ने आदिवासियों के साथ जितनी ज्यादतियां की हैं, उनसे कम अत्याचार देशज दिकूओं (बाहरी) ने नहीं किया है। आदिवासियों के संसाधनों को बेहिसाब लूटा गया। संस्कृति के नाम पर हजार साल पुराने इतिहास को वर्तमान घटना की तरह बरतने वाले बहुसंख्यक हिन्दू समाज ने आदिवासी संस्कृति को छिन्न–भिन्न करने में कौन–सी कसर छोड़ी? औपनिवेशिक सत्ता द्वारा आदिवासियों का ईसाईकरण किया गया तो हिंदुत्ववादी शक्तियों द्वारा हिंदूकरण। लेकिन इनसब के बीच आदिवासी संस्कृति को हृदयंगम करने का कोई यत्न देखने को नहीं मिलता। चाहे औपनिवेशिक सत्ता हो या हिंदुत्ववादी शक्तियां इन्होंने आदिवादियों को लूटा–खसोटा लेकिन कभी उन्हें अपनाने का यत्न नहीं किया। लूट–खसोट की इसी संस्कृति पर प्रहार करते हुए जसिंता यह सवाल उठाती हैं कि आदिवासी क्षेत्र के संसाधनों को लूटने–खसोटने वाले आज आदिवासियों के प्रतिरोध को नक्सलवाद या आतंकवाद से जोड़ देते हैं लेकिन उस दिन क्या करेंगे जब पर्यावरण असंतुलन अपने चरम पर होगा, प्राकृतिक संसाधनों की बेहिसाब क्षति कर प्रदूषण फैलाने वाले लोग उस क्षण क्या करेंगे जब प्रकृति तांडव करेगी? विकास के नाम पर जंगलों, नदियों और पहाड़ों को कुचलने वाले सत्ता में बैठे नीति–नियामक क्या उस दिन बाढ़,बारिश, तूफान और ग्लोबल वार्मिंग के नतीजों को भी आतंकी घोषित करेंगे? कौन–सी जेल होंगी वे जहां प्रकृति को कैद किया जा सकेगा? इस सन्दर्भ में निम्नांकित काव्य–पंक्तियां विचारणीय हैं : "एक दिन बारिश घर तक आ जाएगी/ और तुम्हारा शहर बहा ले जाएगी/ तुम क्या करोगे?/ क्या उसे भी आतंकी घोषित करोगे/ और उसपर भी बम बरसाओगे?"[3]

उन तमाम पर्यावरणविदों को आज विकास के शत्रु के रूप में देखा जाता है, जो विकास के नाम पर प्रकृति के साथ खिलवाड़ का विरोध कर रहे हैं। आदिवासी सहित तमाम पर्यावरण कार्यकर्ताओं को जरूरत पड़ने पर सत्ता जेल का रास्ता दिखाने से चूकती नहीं! उनकी पर्यावरण सम्बन्धी चिंताओं को देशद्रोह की तरह देखा जा है। पर प्राकृतिक आपदाओं के समक्ष क्या सत्ता के जेल और काले कानून काम आयेंगे! जसिंता पर्यावरण सम्बन्धी चिंताओं को परिवर्तनकामी विचारधारा व आंदोलन का अनिवार्य अंग मानती हैं। यह कहना गलत नहीं होगा कि उनकी इंकलाबी चेतना के निर्धारण में प्रकृति संरक्षण का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है।

मुख्यधारा के समाज में आधुनिकता और विकास की जो बाजारवादी–उपभोक्तावादी अनैतिक लिप्सा है, वह भले पूंजीपतियों, धर्म के ठेकेदारों और सामाजिक संरचना में विन्यस्त शक्तिशाली तंत्र को मजबूत करती हों परन्तु वह दलितों–आदिवासियों को मुख्यधारा से जोड़ने का दिखावा मात्र है। मुख्यधारा से जोड़ने के नाम पर वंचितों–शोषितों को उनकी जड़ों से उखाड़ने का सत्ता प्रायोजित अभियान आज भी जारी है। जसिंता ऐसे कुत्सित अभियानों को अपनी कविताओं में बारहां सवालों के कटघरे में खड़े करती हैं। मसलन इस संदर्भ में उनकी 'क्यों काटे जाते हैं पेड़' और 'सच बोलती सड़कें' अपने आप में अपूर्व हैं। सत्ता प्रायोजित ऐसे अभियानों पर सवालिया निशान लगाती निम्नांकित काव्य–पंक्तियों को यहां देखा जा सकता है: "वे पेड़ों को मुख्यधारा में लाना चाहते हैं/ पर अपनी जमीन से उखड़कर पेड़/ क्या मुख्यधारा में कभी आते हैं?/ बस इसलिए काट दिए जाते हैं।"[4]

जसिंता के कवि के लिए सशस्त्र संघर्ष वर्जित नहीं है। वे शांति और प्यार के संदेश के साथ क्रांति को भी जीवन के लिए अनिवार्य श्रृंगार मानती हैं। और ठीक इसी बिन्दु पर उनकी कविता हूल की परम्परा से जुड़ जाती है। जसिंता मानती हैं कि जब तथाकथित सभ्य समाज आत्मरक्षा और अपने विकास के नाम पर निहत्थे आदिवासियों की हत्या के लिए स्वतंत्र हैं तब यह लाजमी हो जाता है कि आदिवासी अपनी आत्मरक्षा के लिए सशस्त्र संघर्ष की राह अपनाए। हालांकि यहां यह रेखांकित करना आवश्यक है कि सशस्त्र संघर्ष को वह आदिवासी आंदोलनों की विरासत से जोड़ती हैं न कि माओवादी आंदोलन से। यह उनकी आदिवासियत से परिपूर्ण वैचारिक अवस्थिति है, जिसकी उपेक्षा कर उनकी इन्कलाबी चेतना को समझना कठिन होगा। बहरहाल 'पहाड़ और हथियार' कविता उक्त मत की पुष्टि करती है। इस कविता की निम्नांकित पंक्तियां इस सन्दर्भ को स्पष्टता प्रदान करती हैं :

"इसलिए पहाड़ की स्त्रियों ने फूलों की जगह/अपने बालों में चाकू खोंस लिया है/ और पुरुषों ने अपने कंधे पर टांग लिया है टाँगी/कि हथियार सिर्फ हत्या करने का जरिया नहीं है/ यह बचाव का जन्मजात अधिकार है/ यह प्यार है जीवन का श्रृंगार है"[5]

एक तरह जहां जसिंता राजनीतिक–सामाजिक प्रतिरोध एवं आदिवासी सौंदर्यबोध के साथ दिखती हैं तो दूसरी तरफ वैज्ञानिकता से लैस आदिवासी संस्कृति को भी साथ–साथ लेकर चलती हैं। यह कहना गलत होगा कि ये सिक्के के दो पहलू हैं बल्कि यह उनकी काव्य–दृष्टि एवं वैचारिकी का समान रूप से अंग है। वह ईश्वरवाद, अवतारवाद, धार्मिक ढोंग और ढकोसले को भी समानांतर रूप से प्रश्नांकित करती हैं। जो लोग आदिवासियों को हिन्दू साबित करने पर तुले हैं, वे या तो आदिवासी जीवन–दृष्टि से अनभिज्ञ हैं या

सत्ता के बहुत शातिर मोहरे हैं। आदिवासी संस्कृति हिन्दू देवी–देवताओं, मान्यताओं और उसके पाप–पुण्य को स्वीकारती ही नहीं। उनके लिए पूज्य प्रकृति है। वह पर्यावरण है, जिसके कारण हम जीवित हैं। नदी और पहाड़ उनके लिए देव तुल्य हैं जिनसे हमारा जीवन चलता है। इस पृष्ठभूमि में उनकी 'पहाड़ और हथियार' शीर्षक कविता का ही एक अन्य अंश विचारणीय है : "पहाड़ अपने बचाव के लिए/ किसी ईश्वर के भरोसे नहीं रहता/ वह लोगों की तरफ देखता है/ अपनी आत्मरक्षा की जिम्मेदारी/ उन्हें खुद ले लेने को कहता है/ और लड़ते लोगों के हक में खड़ा रहता है/ इसलिए यहां लोग/ नदी झरनों पेड़ों पहाड़ों को पूजते हैं/ उनका ईश्वर वही है/ जिसे वे छू सकते हैं देख सकते हैं/ ईश्वर जो उनके आस–पास रहता है/ जो नदी–सा चुपचाप उनके बीच बहता है।"[6] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि आदिवासी संस्कृति में किसी ब्राह्मणीय देवी–देवता के लिए स्थान नहीं है। उन्हें हिन्दू (या इसाई) कह कर वर्चस्ववादी शक्तियां उनका सांस्कृतिक नरसंहार कर रही हैं।

जसिंता आदिवासी समाज और तथाकथित मुख्यधारा के समाज के बीच जैसे सांस्कृतिक–सामाजिक और राजनीतिक टकरावों को अपनी कविताओं में गहनता से स्थान देती हैं, उसी तरह राज्य द्वारा आदिवासी इलाकों पर थोपी गई सैन्य कार्रवाईयों की भी वह तीक्ष्ण आलोचना करती हैं। जसिंता स्पष्ट शब्दों में कहती है : "युद्ध का दौर खत्म हो गया/ अब सीमा की सेना का रुख उधर है/ मेरा स्कूल–कॉलेज, गांव–घर, जंगल–पहाड़ जिधर है"[7] यानी बड़ी मात्रा में प्राकृतिक संसाधनों वाले आदिवासी क्षेत्र जहां आदिवासी समाज हजारों साल से जीते आ रहे हैं। कायदे से वह भूमि उनकी है लेकिन भारतीय राज्य अपने मूल चरित्र में दिकूवादी नीतियों पर चलती है। इसलिए तमाम प्रावधनों के बावजूद वह आदिवासियों की भूमि हथियाने की जुगत में लगी रहती है। इसके लिए वह माओवादियों से लड़ने के लिए 'ऑपरेशन ग्रीन हंट' जैसे छद्म युद्ध रचती है जिसमें माओवादियों का तो पता नहीं असंख्य निर्दोष आदिवासी जरूर मारे जाते हैं। इन हत्याओं के लिए सरकार सेना का इस्तेमाल करती है। अतः जसिंता का सवाल सेना से भी है। वह कौन–सा युद्ध है जो सेना आदिवासियों के सीने छलनी करके जीत जाएगी? कहीं यह दिकू व्यापारियों के लिए आदिवासियों को विस्थापित करने के लिए तो नहीं किया गया? यह प्राकृतिक संसाधनों की लूट के लिए तो नहीं किया गया? भारतीय राज्य के सैन्यवाद की नीति से आदिवासी जीवन किस कदर प्रभावित है इसे उक्त कविता की ही निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है : "कोई युद्ध न हो तब भी सेना तो रहेगी/ आख़िर वह क्या करेगी?/ वह कैंपों के लिए जंगल खाली कराएगी/ जानवरों की सुरक्षा के लिए/ गांवों को खदेड़कर शहर ले जाएगी/ और शहर में सवाल पूछते/ गांव के बच्चों पर गोली चलाएगी"[8]

अतिराष्ट्रवाद के वर्तमान उन्मादी समय में सेना जैसी संस्था से सवाल करना अपने आप में साहसिक काम है। जसिंता बतौर कवि यह काम बहुत ही सहजता और तर्कपूर्ण ढंग से करती हैं। उनकी इन्कलाबी चेतना की शिनाख्त करते हुए 'सेना का रुख़ किधर है' जैसी कविताओं को अनिवार्यतः ध्यान में रखना होगा।

सामान्यतः ऐसा होता है कि सामाजिक–सांस्कृतिक एवं राजनीतिक चिंताओं के कवि से परिवार संस्था से जुड़े प्रश्न छूट जाते हैं या काव्यभिरुचि के कारण अलक्षित रह जाते हैं किन्तु यह उल्लेखनीय है कि स्त्री कवियों ने परिवार संस्था से जमकर जिरह की है। हालांकि बहुत से पुरुष कवियों ने भी परिवार संस्था, पितृसत्ता, स्त्रियों की दयनीय स्थिति को अपनी कविता में स्थान दिया है। जसिंता की इस सन्दर्भ से जुड़ी यूं तो दसाधिक कविताएं हैं लेकिन उनकी 'विवाह' शीर्षक कविता मुझे बहुत प्रिय है। इस कविता में विवाह को लेकर मां–बेटी का संवाद दिखलाया गया है। कवयित्री अपनी मां से पूछती है कि तुमने सभी भाई–बहनों को विवाह के लिए पूछा, ससमय सबका विवाह भी करवाया लेकिन मुझसे कभी विवाह के लिए क्यों नहीं पूछा? इस प्रश्न के उत्तर में मां जो कहती है, वह अपने आप में पितृसत्ता की नींव को हिला देने वाला बयान है, जिसे दर्ज करने के लिए कवि की इन्कलाबी नजर होनी चाहिए। जसिंता के ही शब्दों में मां का उत्तर द्रष्टव्य है : "कुछ देर चुप रही वह/ फिर धीरे–से बोली– अगर दुबारा जीवन मिलता मुझे/ तो मैं फिर कभी विवाह नहीं करती/ तुम में मैंने हमेशा खुद को ही देखा/ शायद इसलिए तुम्हें/ विवाह के लिए कभी नहीं टोका।"[9]

वस्तुतः जसिंता आदिवासी परम्परा की प्रगतिशीलता की वाहक हैं। आदिवासी संस्कृति में जो भी क्रांतिकारी तत्व हैं, उनका संवहन जसिंता की कविताएं बहुत ही स्वतःस्फूर्त ढंग से करती हैं। जसिंता की क्रांतिकारी चेतना की जड़ें आदिवासियत तथा जल, जंगल, जमीन के लिए चलने वाले तमाम आंदोलनों से जुड़ी हुई हैं। इसलिए उनकी इन्कलाबी चेतना नैसर्गिक ढंग से उनके कवि का अंतर्मन गढ़ती है।

सन्दर्भ सूची –

1. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 200
2. केरकेट्टा, जसिंता, प्रेम में पेड़ होना, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2024, पृ– 74
3. केरकेट्टा, जसिंता, प्रेम में पेड़ होना, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2024, पृ– 93
4. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 188
5. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 171
6. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 172
7. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 155
8. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 156
9. केरकेट्टा, जसिंता, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, संस्करण–2023, पृ– 139